योग वैशिष्ट्य

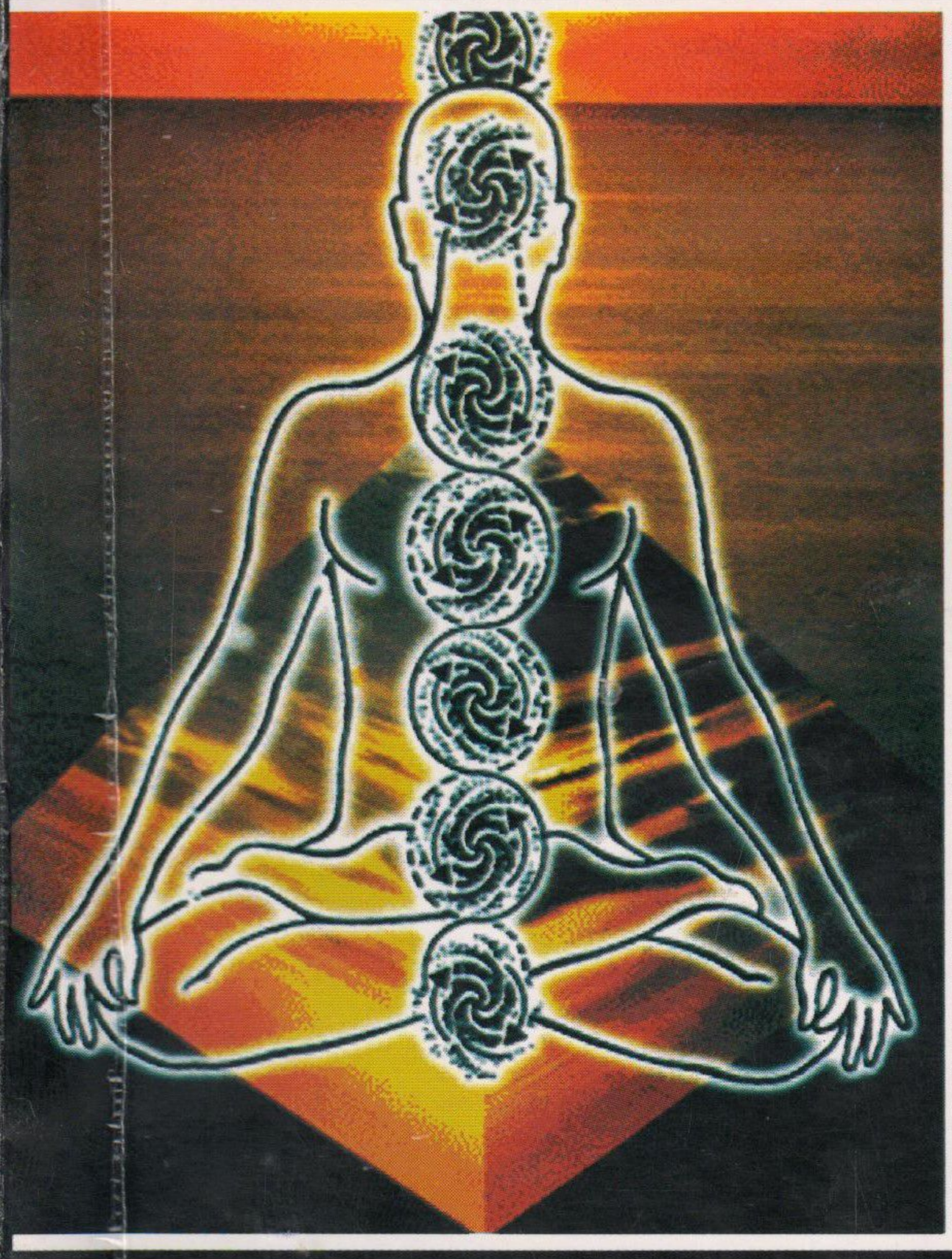

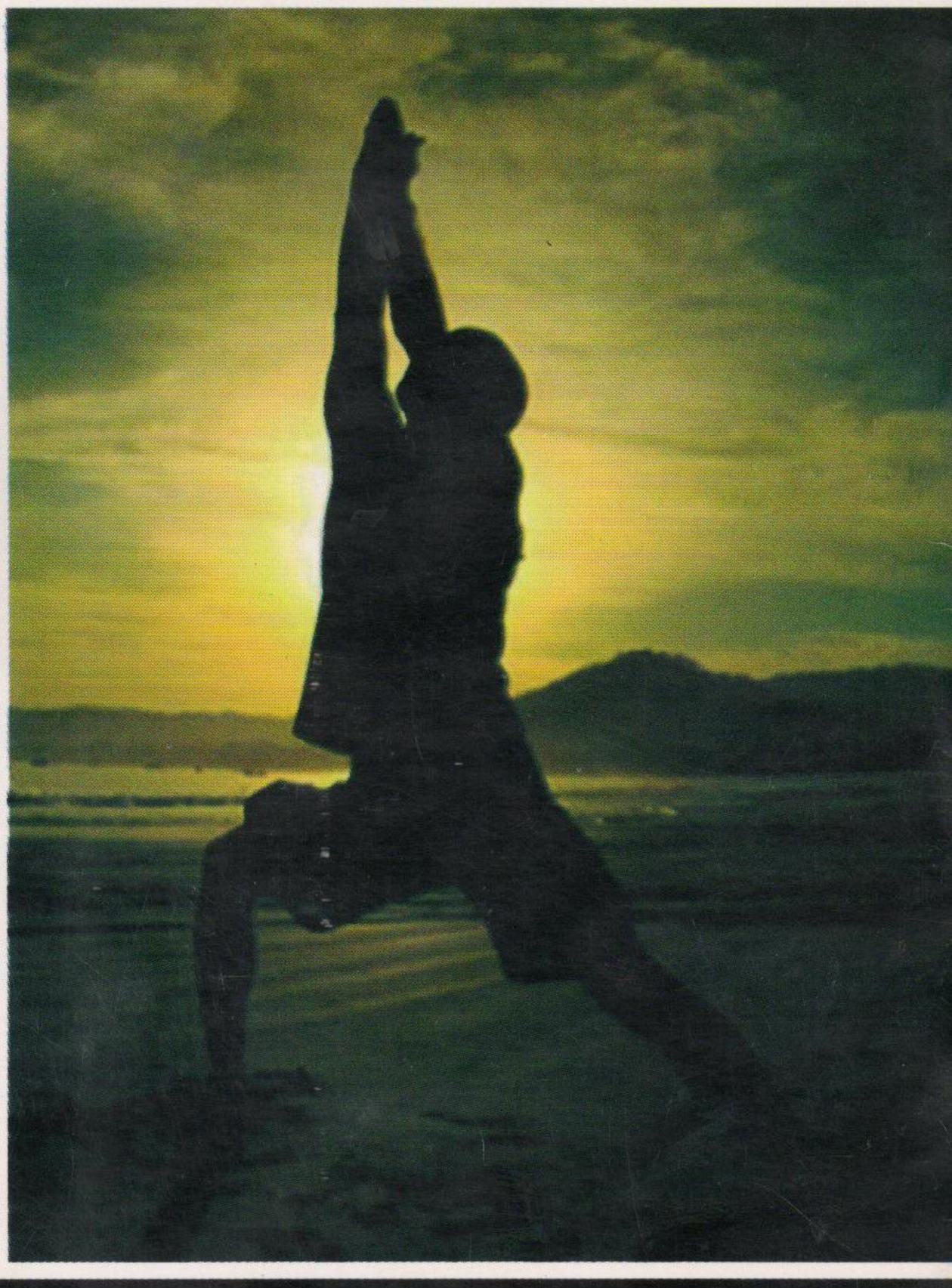

संपादक
डॉ. जे. पी. एन. मिश्रा

जैन योग एवं अन्य योग पद्धतियाँ

योगेश जैन

भारत में दार्शनिक चिन्तन अतिप्राचीन काल से ही लोकप्रिय रहा है। जीवन के सत्य का मानव जीवन के उद्देश्य एवं उपयोगिता का तथा दुःखों से उत्पन्न निवृत्ति का वास्तविक तथ्य जानने के लिए भारतीय ऋषि-मुनियों ने जिन तथ्यों और सिद्धान्तों का दर्शन एवं अन्वेषण किया, उसे ही दर्शन शास्त्र कहते हैं। भारत में दार्शनिक चिन्तन का विकास (प्रादुर्भाव) वैदिक युग में ही प्रांरभ हो गया था। वैदिक संहिताओं में दर्शन के प्रमुख तत्त्वों ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि-उत्पत्ति, जन्ममृत्यु, मोक्ष, नरक, स्वर्गादि तत्त्वों पर विचार किया गया है। भारतीय दर्शनों का मुख्य उद्देश्य पुनर्जन्म के चक्र से बचकर मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए सभी दर्शनों ने पृथक्-पृथक् मान्यताएँ या कल्पनाएँ स्वीकार की है।

उपनिषद् साहित्य दार्शनिक चिन्तन का मूल आधार रहा है। भारतीय दर्शनों को वैदिक-अवैदिक के भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते है। वेदों को प्रमाण मानने के कारण सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, मीमांसा-वेदान्त ये आस्तिक दर्शन तथा चार्वाक, जैन और बौद्ध वेदों को प्रमाण न मानने के कारण नास्तिक दर्शन कहे जाते हैं।

षड्दर्शनों में योगदर्शन का बहुत महत्त्व है। यह ईश्वरवादी दर्शन है तथा योगविद्या इस भारत धरा की ही उत्कृष्ट और अतिप्राचीनकाल से आयी विद्या है। सभी योगीजन, आगम, मनीषीपुरुष तथा प्राचीन धर्म-दर्शन संप्रदाय एक स्वर से हिरण्यगर्भ प्रभु को ही आदि, पूर्ण पुरुष तथा योग के प्रवक्ता स्वीकार करते हैं। जैन परम्परा इन्हें हिरण्यगर्भ कहने के अतिरिक्त प्रथमतीर्थंकर आदीश्वर आदिनाथ भी कहती है। सम्पूर्ण जीवन की विशिष्ट पद्धति रूप यह योग विद्या सम्पूर्ण विश्व में प्राचीन विद्या है। एक समान सूत्र की तरह यह योग सर्व धर्म सम्प्रदायों की एक मूलता को भी प्रगट करता है। योगदर्शन की परम्परा में भगवान कृष्ण का नाम बहुत प्रसिद्ध है। भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने नष्ट हुये योग का पुनः प्रवर्तन किया, तथा ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग का उपदेश दिया।

वर्तमान में योग के प्रवर्तक महर्षि पातंजलि माने जाते हैं तथा इन्होंने ''चित्तवृत्ति निरोध'' को योग कहा है। प्राचीन काल में मुमुक्षु सम्प्रदाय में सांख्य तथा योग ये दो सम्प्रदाय बहुत काल तक प्रचलित रहे, जो केवल तत्त्व, निदिध्यासन तथा वैराग्य का अभ्यास करके आत्म-साक्षात्कार करते थे, वे सांख्य मतावलम्बी तथा जो जप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग के क्रम से आत्मसाक्षात्कार करते थे वे योग सम्प्रदाय के थे। जैन परम्परा में तीर्थंकर और अर्हत् पुरुष वीतरागी और निग्रन्थ रहे, वे मात्र प्रवचन करते थे, अतः उन्होंने (आर्हत् पुरुषों ने) ग्रन्थ रचनाएं नहीं की। जैन आगम और योग से संबंधित रचनाएं बहुत बाद में उस सरस्वती काल में आरम्भ हुई, जिसका पता मथुरा के केकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त सरस्वती एवं अन्य जैन मूर्तियों से चलता है। इसके बाद दक्षिण और उत्तर में कई समर्थ आचार्यों ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया।

वर्तमान में जैनों में विपुल योग तथा अध्यात्म से संबंधित रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इन रचनाओं में वह चिन्तन पर्याप्त रूप से प्रस्तुत हुआ है जो मूलतः प्राचीन रहा है। यही कारण है कि योग के स्वरूप एवं लक्ष्य तथा मोक्षादि तत्त्वों के प्रतिपादन में जैन दृष्टि एक स्वर से समान ही रही है। यह समानता ही इसकी मौलिकता है। अन्य सम्प्रदायों में मोक्षादि अवधारणा के सम्बन्ध में यह एकरूपता नहीं देखी जाती है। जैन परम्परा में आज भी आचार्य एवं मुनिराजो का विहार होता है, यद्यपि सर्वज्ञ तीर्थंकरों का इस भू-भाग में विहार नहीं है तथापि आदि परम्परा आज भी जीवित है। यह परम्परा चाहे कई शाखाओं में विभक्त क्यों न हो गई हो परन्तु सिद्धान्तों तथा योगतत्त्वों में मौखिक रूप से समानता आज भी है। बुद्ध के समकालीन महावीर ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, निघुण्ट, षष्टितन्त्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष इन सभी विद्याओं में व्युत्पन्न थे। योगदर्शन में वर्णित अष्टांग-योग (यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि) के समान ही जैन योग के प्रधान पांच साधन (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) यम ही हैं, क्योंकि योगानुसार यम के यही पांच भेद किये गये हैं।

यह योगशासन जैनों में मुक्तिमग्ग, मुक्तिमार्ग अथवा तपोयोग के नाम से जाना जाता है। इसमें जीवन-दर्शन के अतिरिक्त ध्यान, चारित्र, तप, अहिंसा आदि अनेक उपाय रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का कथन है। आत्म तत्त्व की मान्यता, निष्ठा एवं श्रद्धा इस योग धर्म का आधार है। यह मान्यता ही अन्तः प्रविष्ट होकर साकार तथा साक्षात्कार को प्राप्त कराती है। योग विज्ञान में दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अखण्डता है। चारित्र ही सम्पूर्ण योगाभ्यास की चरम परिणति है। कहा भी है कि- ''चारित्रं खलुधम्मो''।

योग ही आत्मा को आत्मा के परम स्वरूप में निर्मल-उज्ज्वल स्वरूप में आने का आमन्त्रण देता है, आग्रह करता है, इसके अतिरिक्त कुछ भी मंगलकारी नहीं है। यह चरित्र निर्माण करता है, व्यक्तित्व को निखारता है, समृद्ध और पवित्र करता है। यह योग आत्मपरिस्पंदनरूप योगावस्था से अयोग की उत्कृष्ट अयोगी जिनेश्वर रूप आत्मावस्था में ले जाता है। यही पूर्ण अवस्था है। यह कथन किसी एक नय या दृष्टि की संकीर्णता से बंधा नहीं है, यह अनेकान्त आत्मा का प्रतिपादक और प्रतिष्ठापक है। यहाँ योग की पूर्णता से तात्पर्य ध्यान की पूर्णता से है तथा ध्यान के भेदों में आर्तरौद्रध्यान ये दो अशुभ रूप तथा धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान ये दो श्रेष्ठ शुभ हैं। शुक्ल ध्यान की पूर्णता ही योग की पूर्णता है और यह पूर्णता अर्थात् केवलज्ञान अपनी आत्मा के निर्मल स्वभाव को साधन बनाकर आत्मध्येय के लक्ष्य को प्रकट कर प्राप्ति की जा सकती है, और यही मोक्षावस्था है।

योग शब्द "**युजिदयोगे**" इस धातु से निष्पन्न होकर जोड़ना या मिलना रूप अर्थ प्रगट होता है। प्राचीन काल में योग शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता था, विशेषकर वैदिक साहित्य में "दो घोड़ों का मेल" ऐसा अर्थ प्रायः मिलता है। धीरे-धीरे इन्द्रिय एवं घोड़ों में समानता को देखकर इन्द्रियों की तुलना घोड़ों से की जाने लगी। जिस प्रकार रथ को सुचारू रूप से चलाने के लिए घोड़ों को नियन्त्रण में रखना आवश्यक है, उसी प्रकार इन्द्रियों को वशीभूत करने के लिए योग अर्थात् एकाग्रता की आवश्यकता प्रतीत हुई।

योगदर्शनानुसार योग का लक्षण "**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**" अर्थात् सर्व प्रकार की चित्तवृत्तियों का निरोध होना ही योग है। योग परम्परा में स्वयं आत्मा ही परम स्वरूप है, और आत्मा का आत्मा में ही एकाग्र होना, लीन होना योग अथवा ध्यान है। तत्त्वार्थ सूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने ध्यान का स्वरूप इसी प्रकार बतलाया है यथा- एकाग्रचिन्तानिरोधो-ध्यानम्"। इसी ध्यान की एकाग्रता योग की पूर्णता अथवा समाधि है। "चित्तवृत्ति" क्लिष्ट और अक्लिष्ट के भेद से दो प्रकार की है। पुनः क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्ति के प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निन्द्रा और स्मृति ये भेद किये जाते हैं। चित्त की स्थिरता रूप योग ही परम धर्म है तथा संसार में जो लोग मोक्ष धर्म का आचरण कर रहे हैं वे सभी उसी परम धर्म के किसी न किसी अंग का अभ्यास कर रहे हैं। ईश्वर की उपासना का प्रधानफल चित्र की स्थिरता है। दानादि कर्मों और संयममूलक कर्मों का फल भी परम्परा सम्बन्ध से चित्तवृत्ति की स्थिरता ही है। अतएव संसार के समस्त साधक जानकर या अनजाने ही इस सर्वजनीन चित्तवृत्ति-निरोध रूप परमधर्म के किसी न किसी अंग का अभ्यास कर रहे हैं। अतपस्वी और आचरण भ्रष्ट व्यक्ति को योग सिद्ध नहीं होता। तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान ये क्रियायोग हैं और यही क्रियायोग समाधि की भावना तथा क्लेशों का क्षय करने के लिए है।

योग द्विविध है, ऐसा सूत्रकार का कहना है, जिसे संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात, सुबीज और निर्बीज के नाम से जाना जाता है। ''संप्रज्ञात'' जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि हमें इसमें समस्त विषयों-वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है तथा यह सम्यक् ज्ञान कहलाता है। इस संप्रज्ञात समाधि में सत्व पुरूषन्यताख्याति रूप प्रज्ञा का आविर्भाव होता है तथा ज्ञान का कोई न कोई विषय अवश्य होता है। परन्तु असंप्रज्ञात में कोई ज्ञान शेष नहीं रहता, सम्पूर्ण वस्तुओं या ज्ञेयों का ज्ञान सम्प्रज्ञात समाधि में ही हो जाता है, अतः असंप्रज्ञात में किसी भी विषय के ज्ञान का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, यह निरोधावस्था चित्त की संस्कार शेषावस्था ही है। इस प्रकार समस्त चित्त वृत्तियों के निरोधपूर्वक समाधिस्त पुरुष को सम्पूर्ण वस्तुओं का ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान योग अर्थात् ध्यान की पूर्णता द्वारा ही होता है। योग को कई भेदों और सम्प्रदायों में विविध रूप से परिभाषित किया गया है। उनमें से सर्वप्रथम यहां हठयोग का स्वरूप बताया जा रहा है।

हठयोग

नत्वासाम्बं ब्रह्मरूपं भाषायां योग बोधिका।
मयामिहिर चंद्रेण तन्यते हठदीपिका॥
प्रणम्य श्री गुरूंनाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते॥

प्रस्तुत श्लोकों से यह सिद्ध होता है कि हठयोग के प्रवर्तक ''स्वात्मारामयोगी'' हैं। सर्वप्रथम इन्होंने हठयोग प्रवृत्ति के कर्ता श्री आदिब्रह्म को नमस्कार किया, तदोपरान्त ग्रन्थ का प्रयोजन कहते हुए लिखा कि मैं स्वात्माराम योगी केवल राजयोग की सिद्धि के लिए हठयोग का उपदेश दे रहा हूँ। अर्थात् हठ-विद्या का फल राजयोग ही है सिद्धि नहीं। कारण सिद्धि तो यत्न के बिना प्रसंग से ही हो जाती है। अतः हठयोग का फल राजयोग और राजयोग से ही मोक्ष प्राप्ति संभव है। हठयोग का अर्थ करते हुए स्वात्मारामयोगी लिखते हैं कि-

ह (सूर्य) ठ (चन्द्रमा) इन दोनों का योग अर्थात् सूर्य और चन्द्रमा रूप जो प्राण अमान है उनकी एकता से जो प्राणायाम होता है वही हठयोग है। हठयोग में योगाङ्गों का स्वरूप एवं भेदप्रभेद योगदर्शन के समान ही है।

हठयोग का फल

जो पुरुष योगाङ्गों के करने में युक्त है उसे सिद्धि होती है, और जो योगाङ्गों को नहीं करता उसे सिद्धि नहीं होती। कदाचित् कहें कि योगशास्त्र के पढ़ने से, गेरू से रंगे वस्त्र धारण करने से कथाश्रवण करने से सिद्धि हो जायेगी सो ऐसा नहीं है, बिना योगाङ्गों की प्रवृत्ति के सिद्धि नहीं होती।

यथा–

राजयोगं बिना पृथ्वी राजयोगं बिना निशा।
राजयोगं बिना मुद्रा विचित्रापि न शोभते॥

अर्थात् अन्य प्रवृत्तियों को रोककर आत्मविषयक जो धारावाहिक निर्विकल्प मन की वृत्ति उसे राजयोग कहते हैं और उस राजयोग (आसन) ''हठयोग के बिना राज योग वृथा है'' के बिना पृथ्वी अर्थात् स्थिरता शोभित नहीं होती है। तथा राजयोग के बिना परम पुरुषार्थ मोक्ष की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। राजयोग के बिना निशा शोभित नहीं होती तथा राजयोग के बिना विचित्रमुद्रा भी शोभित नहीं होती है। इस प्रकार हठयोग में भी पातञ्जल सम्मत अष्टाङ्ग योग में से आसन पर जोर दिया गया है तथा परोक्ष रूप से यम-नियमादि को भी समाहित किया गया है। जैन मान्यतानुसार अहिंसादि आचरण और ध्यान (राजयोग) का अंतिम लक्ष्य मोक्ष की सिद्धि ही है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्ति योग में भी स्वात्मा को लक्ष्य करके कथन किया है तथा अंतिम लक्ष्य आत्मा का परमात्मा से मिलन ही बताया है। आत्मा स्वयं अनन्तज्ञान का भंडार है तथा वह आत्मा अज्ञान रूप आवरण को ''चित्तवृत्ति निरोध रूप कार्य से अथवा ईश्वर भक्ति से'' आवरण को दूर कर स्वयं सर्वज्ञ परमात्मा बन सकता है। अष्टाङ्गयोगानुसार कहे तो यह जीव बाह्याचरण को सुधारकर चित्तवृत्तियों का निरोध कर यथायोग्य आसनारूढ़ होकर शुक्ल ध्यान पूर्वक पूर्णज्ञान को प्राप्त कर सकता है, और यही उसका अंतिम लक्ष्य है।

सारांश रूप में कह सकते हैं कि योग के आदि प्रवर्तक आदिब्रह्मा आदिनाथ ने जो योग अर्थात् आत्मध्यान का मार्ग बताया था वही कालान्तर में पातञ्जली ने अष्टाङ्ग योग में भेद करके बताया तथा स्वात्माराम योगी ने हठयोग में भी पक्षान्तर से वही बात कही तथा वेदान्ती पुरुषों ने भी उसी बात को दुहराया परन्तु जैनों ने इसके संदर्भ में कुछ विशेष कहा है कि आत्मज्ञान के लिए ध्यान पूर्वक योग ही कार्यकारी है। जिस प्रकार हठयोग में कहा गया है कि अतपस्वी को सिद्धि नहीं होती। यहां अतपस्वी से तात्पर्य जिन्होंने इन्द्रियों को नहीं जीता तथा जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया या जो जीत रहे हैं वे सभी तपस्वी हैं अन्य केवल शरीर को स्वस्थ रखने हेतु किया जाने वाला ध्यान और योग सिद्धि का कारण नहीं है। अतः परम्परा कोई भी हो, दर्शन कोई हो, योग की सिद्धि मोक्ष प्राप्ति में ही है। चाहे यमनियमादि द्वारा आत्मज्ञान हो, चाहे राजयोग (आसन) द्वारा ध्यान हो, चाहे अहिंसादि आचरण पालनकर धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान पूर्वक पूर्णता की प्राप्ति हो, अंतिम लक्ष्य तो एक ही है। साधन की विभिन्नता होने पर भी साध्य की एकरूपता होने के कारण यह कहा जा सकता है कि पूर्णता या मोक्ष का कारण एकमात्र योग ही है।